



हिंदी शिक्षण अधिगम केंद्र



# महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार केपंडित मदन मोहन मालवीय राष्ट्रीय शिक्षक एवं शिक्षण अभियान (PMMMNTT)

द्वारा आयोजित

राष्ट्रीय ई-कार्यशाला

**जम्मू-कश्मीर का सांस्कृतिक अवबोध : भाषा एवं साहित्य का परिपेक्ष्य**

दिनांक : 25-30 जून, 2020

प्रतिवेदन/रिपोर्ट

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति इन तीनों पक्षों में मानव समाज के विकास-यात्रा की आत्मा निहित है। भाषा द्वारा साहित्य का सृजन होता है और संस्कृति उस सृजित साहित्य में प्रौढ़ता के साथ नवयुवा पीढ़ी के लिये यथार्थ को प्रस्तुत करती प्रवाहमान रहती है। वस्तुतः इसकी धारा में तात्कालिक परिस्थितियों के यथार्थ का चित्रण स्पष्ट है। उपर्युक्त तीनों पक्षों पर समायोजित दृष्टि से मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार केपंडित मदन मोहन मालवीय राष्ट्रीय शिक्षक एवं शिक्षण अभियान के अंतर्गत महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में संचालित हिंदी शिक्षण अधिगम केंद्र द्वारा दिनांक 25-30 जून, 2020 को 'जम्मू-कश्मीर का सांस्कृतिक अवबोध : भाषा एवं साहित्य का परिपेक्ष्य' विषय पर राष्ट्रीय ई-कार्यशाला का आयोजन किया गया। इसका सत्रवार विवरण निम्नलिखित है।

## उद्घाटन सत्र :

इस कार्यशाला के उद्घाटन सत्र का प्रारंभ दिनांक 25 जून, 2020 को अपराह्न 03 बजे विश्वविद्यालय के कुलगीत एवं मंगलाचरण से हुआ। इसके पश्चात प्रतिभागियों ने क्रमवार अपना परिचय प्रस्तुत किया। हिंदी शिक्षण अधिगम केंद्र के निदेशक प्रो. कृष्ण कुमार सिंह ने 12वीं सदी के महाकवि एवं इतिहासकार कल्हण द्वारा राजतरंगिणी में वर्णित कश्मीर के सौंदर्य का संदर्भ देते हुए सारगर्भित स्वागत-कथन प्रस्तुत किया। आयोजक विश्वविद्यालय के जनसंचार विभाग के अध्यक्ष तथा मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान के अधिष्ठाता प्रो. कृपाशंकर चौबे ने कार्यशाला के विषय-चयन के आधार का उल्लेख करते हुए प्रस्तावना प्रस्तुत की। उन्होंने बताया कि कश्मीरी, डोंगरी, संस्कृत, उर्दू, फारसी एवं हिंदी के विकास में जम्मू-कश्मीर का अद्वितीय योगदान रहा है। आनंदवर्धन, उद्भट, मम्मट एवं अभिनव गुप्त जैसे संस्कृत आचार्य से लेकर आदि कवयित्री लल्लेश्वरी, उर्दू रचनाकार मिर्जा अकलम, कश्मीरी रचनाकारों, डोंगरी रचनाकारों विशेष रूप से पद्मा सचदेव, कश्मीर के विषय में हिंदी लेखन करने वाली सत्यवती मलिक, मोहन कृष्णधर, नीलकंठ शर्मा, हरिकृष्ण कौल, अग्नि शेखर आदि का वर्णन करते हुए कहा कि भाषा और साहित्य में युग को बदलने का सामर्थ्य होता है। इसी सामर्थ्य को जम्मू और कश्मीर की भाषा एवं साहित्य में तलाशने की अभिलाषा के साथ उन्होंने कार्यशाला के सफलता की कामना की। सत्र के मुख्य वक्ता श्री आशुतोष भटनागर, निदेशक, जम्मू-कश्मीर अध्ययन केंद्र, नई दिल्ली रहे।

मुख्य वक्ता श्री आशुतोष भटनागर जी ने जम्मू-कश्मीर के ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक वैविध्य पर प्रकाश डाला। श्री भटनागर जी ने अपने उद्बोधन में कहा की पिछले तीन दशकों में लिखे गए लेखों में भारतीय संवेदना को दर्शाने की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, किन्तु तीस वर्ष संस्कृति के पैमाने पर अत्यंत लघु प्रतीत होते हैं क्योंकि सांस्कृतिक अवबोध को गढ़ने में हजारों वर्ष लगते हैं। कल्हण की राजतरंगिणी से भी पूर्व के 11 इतिहासकारों का वर्णन करते हुए उन्होंने अभिनव गुप्त, राजशेखर आदि के विषय में विस्तार से बताया। संस्कृति की दृष्टि से जम्मू-कश्मीर एक अत्यंत समृद्ध प्रदेश रहा है। इरावती, वितस्ता, बिपाशा, सिंधु एवं सरस्वती द्वारा पल्लवित यह प्रदेश चारों भाषिक परिवारों का स्थल रहा है। कश्मीर साहित्य, संगीत, कला, एवं शैव दर्शन की भूमि है। इसमें लगभग 62 भाषाएँ, उनका अपना साहित्य, बेशक अत्यल्प मात्रा में ही रचा गया हो, व्यवहृत होती रही है। भटनागर जी ने मुख्य रूप से शीना एवं बल्ती भाषाओं का वर्णन करते हुए कहा कि बल्ती भाषा में तत्सम शब्दों की प्रधानता है, जो प्रमाणित करती है कि इस भाषा का विकास संस्कृत से ही हुआ है। इस भाषा में प्रचलित अनेक शब्दों को उन्होंने संस्कृत से ही उत्पन्न माना। इतवार का उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया कि इतवार को शीना भाषा में आज भी आदित्यवार ही कहा जाता है।

उद्घाटन सत्र के अध्यक्ष महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के माननीय कुलपति प्रो. रजनीश कुमार शुक्ल ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में बताया कि जम्मू और कश्मीर का सांस्कृतिक अवबोध भारतीयता का ही अवबोध है। उन्होंने कहा कि लेह-लद्दाख से लेकर गिलगिट पाकिस्तान तक और हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र से लेकर तराई के क्षेत्र तक फैला हुआ सप्तसैधव का यह प्रदेश भारत का एक अभिन्न अंग रहा है। उन्होंने कहा कि हम स्वयं को जिन ऋषियों की संतान मानते हैं, यह कश्मीर उन्हीं ऋषियों की साधना स्थली रही है। कश्यप ऋषि की ज्ञान परंपरा कश्मीर से ही प्रारंभ होती है। कश्मीर भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का गर्भनाल है। आचार्य अभिनव गुप्त द्वारा कश्मीर में प्रतिपादित साहित्यिक सिद्धांतों की चर्चा कर्नाटक और केरल तक हुई है। कश्मीर को समझे बिना भारतीय सनातन ज्ञान परम्परा को नहीं समझा जा सकता। शैव-वैष्णव परम्परा को समझना है, तो कश्मीर को समझना होगा। सारस्वत सभ्यता को समझना है, तो कश्मीर को समझना होगा। कश्मीर के साहित्य को समझना भारत के साहित्य को समझना है। कश्मीर की भाषा को समझना भारत के भाषिक विकास को समझना है, या यँ कहे कि कश्मीर को समझना ही भारत को समझना है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। कश्मीर भारत की कोई समस्या नहीं बल्कि यह भारत की समस्त समस्याओं का एक समाधान हो सकता है।

प्रो. शुक्ल ने बताया कि सन् 1935 के बाद से जम्मू-कश्मीर का अलग राजनीतिक स्वरूप उभरकर आया है, यह स्वरूप 1947-48 में कुछ विखंडित हुआ। आजादी के बाद भारतीयता व कश्मीरियत को अलग-अलग करके देखा जाने लगा, इसीलिए नई पीढ़ी ज्ञान के निकष के रूप में कश्मीर की महत्ता को नहीं समझ पाई। उन्होंने अत्यंत सारगर्भित वक्तव्य द्वारा जम्मू-कश्मीर के सांस्कृतिक अवबोध को भारत के सांस्कृतिक से जोड़कर इस कार्यशाला एवं इसके विषय के महत्व को प्रतिपादित किया। अतिथि परिचय एवं आभार ज्ञापन कार्यशाला समन्वयक श्री अजय कुमार शर्मा ने प्रस्तुत किया। हिंदी शिक्षण अधिगम केंद्र के संयुक्त निदेशक प्रो. अवधेश कुमार जी ने उद्घाटन सत्र का प्रभावी संचालन किया।

### **प्रथम अकादमिक सत्र :**

दिनांक 26 जून, 2020 को अपराह्न 03 बजे कार्यशाला के प्रथम अकादमिक सत्र में प्रथम वक्तव्य ‘जम्मू-कश्मीर : भाषिक विविधता की भूमि’ विषय पर प्रो. नीरजा अरुण गुप्ता, प्राचार्या, भारतीय विद्या भवन आर्ट्स एवं कॉमर्स

कॉलेज, अहमदाबाद एवं निदेशक, भारतीय शोध संस्थान, अहमदाबाद द्वारा प्रस्तुत किया गया। प्रो. नीरजा अरुण गुप्ता जो जम्मू-कश्मीर की भाषाओं पर एक रिसर्च प्रोजेक्ट की संचालिका रही हैं, ने बताया कि भारतीय संस्कृति की जड़ें, चाहे वे भौगोलिक हों, आध्यात्मिक हों, खगोलशास्त्रीय हों अथवा दार्शनिक हों, सभी कहीं न कहीं जम्मू-कश्मीर से जुड़ी हुई हैं। भाषा में ऐतिहासिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, भौगोलिक तत्व होते हैं ; इसीलिए भाषाएँ संस्कृति की संवाहिकाएँ होती हैं। जम्मू-कश्मीर में संस्कृत से लेकर पालि-प्राकृत एवं अन्य आधुनिक भाषाएँ अनेकानेक रूपों में विद्यमान रही हैं। जम्मू-कश्मीर की सरकारी भाषाएँ उर्दू एवं अंग्रेजी हैं, परंतु यह दोनों भाषाएँ जम्मू-कश्मीर की संस्कृति से विलग हैं।

जम्मू-कश्मीर में लदाखी, भोटी, डोंगरी, कश्मीरी, शीना, बल्ती, पहाड़ी, उर्दू आदि 62 भाषाएँ बोली जाती हैं। कश्मीर में सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा कश्मीरी है। इसकी मूल लिपि शारदा है, परंतु इसे पश्तो एवं अरबी लिपि में भी लिखा जाता है। पंजाबी, कश्मीरी, डोंगरी व हिंदी जम्मू-कश्मीर में सामान्य संपर्क भाषाओं के रूप में व्यवहृत की जाती हैं। भोटी अथवा लदाखी, लदाख एवं लेह क्षेत्र की भाषाएँ हैं, जबकि शीना कारगिल एवं गिलगिट क्षेत्र में बोली जाती हैं। यह एक वीर रस प्रधान भाषा है, जिसमें बलाघात का विशेष प्रभाव है। कारगिल एवं द्रास के मध्य छोटे से क्षेत्र में बोली जाने वाली बल्ती भी कश्मीर की एक महत्वपूर्ण भाषा है। कश्मीर में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा कश्मीरी है तथा उसके बाद पहाड़ी का स्थान आता है। कश्मीर के 39 जिलों के भाषाई अध्ययन के अपने प्रोजेक्ट के निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए प्रो. नीरजा अरुण गुप्ता ने बताया कि कश्मीर की 62 भाषाओं में से तीन भाषाएँ-डोंगरी, कश्मीरी एवं हिन्दी शेड्यूल्ड भाषाएँ हैं, जबकि सात भाषाएँ नॉन- शेड्यूल्ड हैं। कश्मीर आदिकाल से ही भारतीय संस्कृति का संवाहक केंद्र रहा है। हमें अभी उसकी भाषाओं के बारे में बहुत कुछ जानना शेष है। कोई भी भाषा कभी ठहरती नहीं है। कश्मीर के राजाओं एवं शासकों के साथ यहाँ की भाषाएँ भी बदलती रही हैं। वक्तव्य के अंत में डॉ. राजेश कुमार, डॉ. हेमंत कुमार, डॉ. रूपेश कुमार सिंह आदि प्रतिभागियों ने अपनी जिज्ञासाओं को प्रश्नों के रूप में प्रस्तुत किया, जिनका प्रो. नीरजा अरुण गुप्ता जी ने बड़े प्रभावी ढंग से शमन किया।

वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान के संस्कृत, दर्शन एवं वैदिक अध्ययन विभाग के सहायक आचार्य डॉ. योगेश कुमार शर्मा इस सत्र के दूसरे वक्ता रहे। उन्होंने 'कश्मीरी साहित्य का सौंदर्य शास्त्रीय मूल्यांकन' विषय पर अपने सारगर्भित विचार प्रस्तुत किए। डॉ. शर्मा ने अपने वक्तव्य में अभिनव गुप्त द्वारा 'ध्वन्यालोक' में लिखित एक स्तोत्र जिसका सार है कि 'सरस्वती व प्रतिभा पत्थर को भी रस से भर देती है' के द्वारा उन्होंने कश्मीर की सौंदर्य शास्त्रीय एवं सृजनात्मक परंपरा के दर्शन कराए। कश्मीर की समृद्ध आचार्य परंपरा का उल्लेख करते हुए डॉ. शर्मा ने बताया कि कश्मीर में साहित्य एवं संस्कृति के सभी पक्षों की गूढ़ व्याख्या करने वाले आचार्य हुए हैं। सौंदर्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने जयशंकर प्रसाद के कथन "संस्कृति सौंदर्य बोध होने की मौलिक चेष्टा है" को उद्धृत किया। कहना न होगा कि जयशंकर प्रसाद स्वयं कश्मीरी शैव दर्शन से प्रभावित रहे हैं। डॉ. शर्मा ने बताया कि अभिनव गुप्त ने सौंदर्य के लिए लावण्य तथा कुंतक ने सौभाग्य जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। कुंतक आदि ने निरुक्ति के रूप में सौंदर्य की व्याख्या 'चमत्कारिक शब्द' के रूप में भी की है।

सौंदर्य शास्त्रीय दृष्टि से कश्मीर में साहित्य की एक समृद्ध परंपरा रही है। डॉ. शर्मा ने इसकी व्याख्या व्यवस्थित इतिहास लेखन की परंपरा के रूप में अभिनवगुप्त, क्षेमेंद्र, कल्हण, उत्पल देव, भट्टनारायण, लल्लेश्वरी आदि की रचनाओं का उल्लेख करते हुए अत्यंत प्रभावी ढंग से की। अंत में उन्होंने कुछ काव्य-पंक्तियों द्वारा साहित्यिक-सौंदर्य को शिव के

उल्लास, जीव-ब्रह्म के एकाकार, शांति एवं कल्याण, बीती यादों के संस्कार, कल्पना के साथ इतिहास एवं ज्ञान के साथ संघर्ष की समन्वित्ता के रूप में प्रस्तुत किया। प्रतिभागियों द्वारा प्रकट की गई जिज्ञासाओं का भी डॉ. शर्मा ने उचित रूप से निराकरण किया। प्रथम अकादमिक सत्र का संचालन डॉ. रामानुज अस्थाना जी ने किया तथा अतिथि परिचय के दायित्व का निर्वहन कार्यशाला समन्वयक श्री अजय कुमार शर्मा ने की।

### द्वितीय अकादमिक सत्र :

दिनांक 27 जून, 2020 को अपराह्न 03 बजे द्वितीय अकादमिक सत्र के प्रथम वक्ता के रूप में प्रो. नीरजा अरुण गुप्ता ने 'सांस्कृतिक एकता की संवाहक भाषाएँ' विषय पर अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया। विषय की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए प्रो. नीरजा अरुण गुप्ता ने कहा कि संपर्क भाषा एवं संपर्क साहित्य संस्कृति को समृद्ध करते हैं। प्रत्येक भाषा अपने साथ अपना ज्ञान, अपनी परंपराएँ, अपनी संस्कृति एवं अपने क्षेत्र की भौगोलिकता, जिसे हम जेनेटिक रियलिटी कह सकते हैं, लेकर आगे बढ़ती है। उन्होंने भाषा में आंचलिकता की आवश्यकता का भी उल्लेख किया। भाषा, धर्म एवं आंचलिकता से जुड़कर संस्कृति बन जाती है। वस्तुतः किसी क्षेत्र की बोली ही उस क्षेत्र की संस्कृति को बुनती है। बोली की इस विशेषता को प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कहा कि बोली हमारे अंतरंग का प्रतिनिधित्व करती है जबकि भाषा बाह्य स्वरूप को दर्शाती है। जिस दिन हम बोली के इस महत्व को समझ लेंगे उस दिन बोली की भाषा के साथ ग्रुपिंग करना बंद कर देंगे। बोली सघनता से हमारे विचारों को आगे ले जाती है। यह जितनी सघनता एवं तीव्रता से हमारी संस्कृति एवं ज्ञान को आगे ले जाएगी, उतनी ही अधिक जीवंत बनी रहेगी। जम्मू-कश्मीर की सभी बोलियाँ एवं भाषाएँ ऐसा करने में सक्षम रही हैं। यह सभी जीवन का प्रत्यर्पण करती आई हैं। बोली हमारी संस्कृति का पूर्ण निर्वहन करती है। धीरे-धीरे विकसित होकर यह क्षेत्र की सीमाओं को भी लांघ जाती है। इस प्रकार यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान का एक प्रमुख माध्यम बन जाती है। भाषाएँ कई बार देश एवं प्रदेश की सीमाओं के निर्धारण का आधार भी बनती हैं। पी.ओ.जे.के. का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि कश्मीर के शासक गुलाम मोहम्मद उस क्षेत्र की भाषा को नहीं जानते थे। अतः वे उस पर शासन नहीं कर पाएँगे, ऐसा सोच कर पी.ओ.जे.के. पर सेना का कब्जा रोक दिया गया। उन्होंने बताया कि कश्मीर में घर में बोली जाने वाली भाषा एक है, बाहर की भाषा दूसरी तथा फॉर्मल क्षेत्र की भाषा तीसरी है। यूँ तो कश्मीर की राजकीय भाषा उर्दू है, परंतु वहाँ का मुसलमान अपनी मातृभाषा कश्मीरी मानता है, उर्दू नहीं।

भाषा एवं साहित्य द्वारा ज्ञान परंपरा के संवहन का उल्लेख करते हुए उन्होंने कश्मीर में पाई जाने वाली सिराजा की चर्चा की। सिराजा एक डोरी होती है, जिससे ताम्रपत्र पर लिखी हुई पांडुलिपियों को पिरो कर इकट्ठे बांध दिया जाता है। इस प्रकार सिराजा एक पूरी ज्ञान परंपरा को बांधे रखने का प्रतीक है। लिपि शब्द को भी उन्होंने सिराजा से जोड़ कर व्याख्यायित किया। लिपि का अर्थ होता है 'टैक्स्ट' जो फ्रेंच भाषा का शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है-बुनना। प्रो. नीरजा जी ने कहा कि जब भाषा को उसकी मूल लिपि से इतर दूसरी लिपि में लिखा जाता है, तो उसकी संस्कृति अवरुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार जब भाषा को संस्कृति का रूप दे दिया जाता है तो उसे बोला जाना प्रायः बंद हो जाता है। संस्कृत के साथ ऐसा ही हुआ है। भाषा का मूल स्रोत, उसका मूल क्षेत्र, उसके बोलने वालों की संख्या आदि के अध्ययन की तकनीक के रूप में उन्होंने एथनालॉजी का उल्लेख भी किया। प्रो. नीरजा जी ने यह भी बताया कि भाषा में क्षेत्र विशेष की भौगोलिक विशेषताएँ झलकती हैं, जिसे भाषा की 'ज्योग्राफिकल अप्रोच' कहा जाता है। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि ठंडे प्रदेश के लोग किसी का स्वागत करने के लिए 'वॉर्मड वेलकम' शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे-जैसे हम उत्तर से दक्षिण की ओर

अर्थात् गर्म प्रदेश की ओर जाते हैं, हमारे शरीर में ब्लड सर्कुलेशन बढ़ता है जिससे भाषा बोलने की स्पीड एवं उसके शब्दों का उच्चारण तेज गति से होता है जबकि कश्मीर जैसे उत्तर क्षेत्र के प्रदेशों में इसके विपरीत स्थिति होती है। इस प्रकार यह एक वैज्ञानिक सत्य बन जाता है कि किसी व्यक्ति की बोली अथवा भाषा को सुनकर उस क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु का अनुमान लगा सकते हैं।

प्रो. नीरजा जी का मानना है कि भाषा संस्कृति को कितना कुछ देती है तथा कितने कुछ का संवहन करती है, यह एक अध्ययन का विषय है। प्रो. नीरजा जी ने स्लाइड्स का प्रयोग करते हुए सन् 2011 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार जम्मू-कश्मीर क्षेत्र में बोले जाने वाली विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करने वाले लोगों की राज्यवार संख्या, फेसबुक जैसी सोशल मीडिया साइट्स पर इन भाषाओं के फॉलोअर्स की संख्या, इन भाषाओं के आकाशवाणी केंद्रों आदि की संख्या को विस्तृत रूप से दर्शाया। प्रश्न-उत्तर अनुभाग में उन्होंने प्रतिभागियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के विवरण सहित विस्तृत रूप से उत्तर दिये।

कश्मीर के प्रमुख साहित्यकार श्री बलराज बख्शी इस दिन के दूसरे वक्ता रहे। उन्होंने **‘उर्दू साहित्य में सांस्कृतिक अवबोध’** विषय पर अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया। श्री बख्शी जी ने ईसा पूर्व 3106 से लेकर कश्मीर के आधुनिक इतिहास तक का उल्लेख किया। सन् 1246 में महाराजा गुलाब सिंह ने कश्मीर को एक राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित किया। सन् 1846 में अमृतसर की संधि के बाद जम्मू भी कश्मीर में शामिल हुआ। उन्होंने बताया कि कश्मीर की साहित्यिक विरासत अत्यंत प्राचीन रही है। इसी के आधार पर **‘वृहत् कथा संग्रह’** सोमदेव भट्ट ने तथा **‘वृहत् कथा सरित’** क्षेमेंद्र ने रची। प्रसिद्ध आचार्य भामह ने काव्यालंकार में काव्य के 39 गुणों का वर्णन किया। आचार्य वामन, उद्भट, मम्मट एवं अभिनव गुप्त आदि ने कश्मीर में ही विभिन्न काव्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। 14वीं-15वीं सदी में कवयित्री लल्लेश्वरी जैसे रचनाकारों ने कश्मीर में साहित्यिक आंदोलन को विकसित किया। श्री बख्शी जी ने बताया कि जम्मू-कश्मीर में उर्दू की तरक्की में मजहबी आंदोलन का प्रमुख हाथ है। अहमदी आंदोलन, ईसाई मिशनरी एवं आर्य समाज आदि के सिद्धांत उर्दू के माध्यम से कश्मीर में पहुंचे तथा धीरे-धीरे उर्दू इलम-ओ-अदब की भाषा बनती गयी।

विगत शताब्दी में अनेक संस्थाओं के प्रयासों से उर्दू साहित्यिक जुबान बनने लगी। जम्मू में गुलाम हैदर चिश्ती, काशीनाथ कायत, नरसिंह दास, इकबाल तमन्ना आदि ने उर्दू अदब की रचना की। धर्मवीर के एडिटर मुल्कराज सराफ ने राजमहल नाम से एक पब्लिशिंग हाउस की स्थापना की। बख्शी जी ने बताया कि जम्मू-कश्मीर में उर्दू कथा साहित्य की शुरुआत बीसवीं सदी के दूसरे दशक में हुई। प्रेमनाथ परदेसी को यहाँ उर्दू का पहला कथाकार माना जाता है। सन् 1924 में मुल्क राज ने ‘रणवीर’ नाम से पहला अखबार निकाला। इसके बाद प्रेमनाथ परदेसी, दीनानाथ वारिको, तीरथ कश्मीरी, श्यामलाल एब्बा, दीनानाथ दिलगीर, कैफ इसराइली, मोहम्मद हाशमी, दयाकिशन गर्दिश, यासमीन, शहजादा मोहम्मद उमर, काशीनाथ कमल, गुलाम हैदर चिश्ती आदि ने उर्दू अफसानों की रचना की। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उर्दू अफसानों ने और भी तरक्की की। वीरेंद्र पटवारी, अब्दुल गनी शेख, बलराज बख्शी जैसे अनेक लेखक उर्दू अदब में बढ़ोतरी करने लगे। बख्शी जी ने उर्दू अदब, खासकर उर्दू अफसानों की एक कमी का उल्लेख करते हुए कहा कि इनमें सिर्फ कश्मीरी आवाम पर होने वाले जुल्म की दास्तानें ही बयां की जाती रही हैं। मानवीय सरोकारों का इनमें अभाव रहा। यह साहित्य एक प्रकार का अलगाववाद उत्पन्न करने वाला साहित्य है। इस संदर्भ में अफसानानिगार प्रेमनाथ परदेसी ने स्वयं लिखा है कि “1933 से 1938 तक जो मैंने लिखा उस पर मैं फ़क्र नहीं कर सकता। इस वक्त तक मुझे अहसास नहीं था कि एक अदबकार होने

के नाते मुझ पर वतन के क्या-क्या फर्ज हैं”। इस दौर के सभी अफ़साने कश्मीर पर ही केंद्रित रहे, जम्मू क्षेत्र को उपेक्षित कर दिया गया। नूरशाह, बलराज बख्शी, अब्दुल गनी शेख आदि ने जम्मू क्षेत्र को भी अपने अदब में जगह दी , परंतु फिर भी यह एक प्रकार से उपेक्षित ही रहा। आज तक भी कश्मीर के अफ़सानानिगार कश्मीर के लोगों पर होने वाले जुल्मों का ही रोना रोते हैं। अफ़सानानिगार उस दौर के राजनीतिक माहौल से प्रेरित होकर वास्तविक यथार्थ से परे होते गए, यहाँ तक कि इन्होंने डोगरा राजाओं पर कश्मीर की रियाया पर जुल्म करने के झूठे आरोप तक लगा दिए। इन्होंने केवल तात्कालिकता को ही अपने अदब का मौजू बनाया। अखबारों की हैडलाइन देखकर कविता, कहानी लिखी जाती रही। उर्दू के ये अदबकार सामाजिक सरोकारों की गहराई में नहीं उतरे। समकालीनता एवं सार्वभौमिकता को प्रायः इन्होंने दरकिनार ही रखा, केवल पॉलिटिकल नैरेटिव को ही कलमबद्ध करने में लगे रहे। कश्मीरी पंडितों के दर्द तक को भी इन्होंने बयां नहीं किया। उर्दू का ऐसा अदब केवल प्रोपेगेंडा ही कहा जा सकता है। इसमें मानवीय मूल्यों की बात नहीं की जाती, यह केवल कश्मीरियत की बात करता है। प्रेमचंद, कृष्ण चंदर, राजेंद्र सिंह बेदी और कुर्तुल हैदर जैसी गहराई कश्मीर के इन उर्दू अदबकारों में कहीं दिखाई नहीं देती।

अपने वक्तव्य के अंत में बख्शी जी ने डॉ. हेमंत कुमार, डॉ. अजय कुमार आदि द्वारा रखे गए प्रश्नों का समाधान भी प्रस्तुत किया। इस अकादमिक सत्र में अतिथि-वक्ताओं का परिचय श्री अजय कुमार शर्मा जी ने दिया तथा सत्र संचालन के कार्यभार का निर्वहन कार्यशाला के सह-संयोजक डॉ. अशोक नाथ त्रिपाठी ने किया।

### तृतीय अकादमिक सत्र :

दिनांक 28 जून, 2020 को कार्यशाला के तृतीय अकादमिक सत्र में प्रथम वक्ता के रूप में प्रो. राम सेवक शर्मा, प्रधानाचार्य, भारतीय विद्या मंदिर, किश्तवाड़ ने ‘सिराजी, भद्रवाही, किश्तवाड़ी, पहाड़ी आदि भाषाओं में सांस्कृतिक अवबोध’ विषय पर अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया। वक्तव्य के आरंभ में प्रो. शर्मा जी ने किश्तवाड़ के भौगोलिक एवं भाषिक परिवेश का वर्णन करते हुए बताया कि जम्मू के सात जिलों में से यह डूंगर प्रदेश के अंतर्गत आता है। रावी और चिनाब के मध्य का प्रदेश किश्तवाड़, एक पठारी प्रदेश है। इसका उल्लेख महाभारत काल में रोहित मंडल के रूप में हुआ है। कल्हण की राजतरंगिणी में किश्तवाड़ के राजा का उल्लेख है, उन्होंने बताया कि पहाड़ी, भद्रवाही आदि भाषाएँ डोंगरी से अधिक दूर नहीं है। उन्होंने कहा कि ग्रियर्सन ने कश्मीरी भाषा के रूप में किश्तवाड़ी एवं अन्य भाषाओं को माना है परंतु यह उनका केवल एक अनुमान ही है। यह तर्क से सर्वथा परे है। वस्तुतः सिद्धेश्वरी की काव्य रचना को उद्धृत करते हुए उन्होंने बताया कि किश्तवाड़ी कश्मीरी से भी पुरानी भाषा है। इसमें अनेक वैदिक शब्द पाए जाते हैं। अनेक लेखक कन्नड़, कश्मीरी का मूल संस्कृत में मानते हैं। कश्मीरी में इनके बहुत से शब्द आ गए हैं। कश्मीरी की मूल लिपि शारदा है परंतु अब यह फारसी में भी लिखी जाती है। शर्मा जी ने बताया कि किश्तवाड़ी प्राकृत का एक अपभ्रंश है। इसमें 90% शब्द संस्कृत से ही आए हैं। इसके लिए उन्होंने वत्स, उट्ट, कर्ण आदि शब्दों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया। किश्तवाड़ी भाषा में बांग्ला एवं तमिल आदि भाषाओं के शब्द भी सहज समाविष्ट हो गए हैं।

किश्तवाड़ी भाषा किश्तवाड़ क्षेत्र में ही बोली जाती है, लगभग एक लाख लोग इस भाषा को बोलते हैं। भद्रवाही का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि भाषा वैज्ञानिकों का मानना है कि भद्रवाही का पूर्ण व्याकरण विद्यमान है। इसकी भाषा शैली बोलचाल के पूर्णतः अनुकूल है। सिराजी भी इसी की एक उपभाषा है। भद्रवाही की अपनी उपभाषा भी है। यह सभी भाषाएँ इंडो आर्यन परिवार की भाषाएँ हैं। इन सब की जननी संस्कृत है। इनका विकास संस्कृत-प्राकृत-पालि-अप्रभंश

के रूप में हुआ है। शर्मा जी ने ऐसे अछूते एवं अभिनव विषय पर कार्यशाला आयोजित करने के लिए महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का आभार व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि ऐसे प्रयास किए जाने की आवश्यकता है, जिससे जम्मू एवं कश्मीर क्षेत्र की भाषाएँ एवं संस्कृति का प्रसार हो सके। उन्होंने कहा कि भाषाओं का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। इन्हें किसी अन्य भाषा के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। उन्होंने साहित्यकारों से अनुरोध किया कि वे डूंगर प्रदेश के बारे में लिखें। उन्होंने किशतवाड़ एवं डूंगर प्रदेश के विषय में लिखने वाले अनेक साहित्यकारों का नामोल्लेख किया। उन्होंने सुझाव दिया कि इस क्षेत्र के सांस्कृतिक भाषिक विकास के लिए संस्थाओं को आगे आना चाहिए। इस संपूर्ण क्षेत्र में समृद्ध संस्कृति बिखरी पड़ी है। पुरातत्व वेत्ताओं द्वारा यहाँ खोज की जानी चाहिए जिससे दबी पड़ी हुई सांस्कृतिक सभ्यता को आगे लाया जा सके। यहाँ की नदी, पर्वत, गुफाएँ आदि सभी पुरातात्विक महत्व रखते हैं। ऋग्वेद में भी इस प्रदेश की नदियों जैसे चंद्रभागा, असीकली आदि का वर्णन मिलता है। अपने व्याख्यान के अंत में उन्होंने प्रतिभागियों की जिज्ञासाओं का उचित रूप से समाधान किया।

इस सत्र के दूसरे भाग में स्कूल ऑफ संस्कृत एंड हिंदी स्टडीज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली के प्रो. रजनीश कुमार मिश्र ने 'जम्मू कश्मीर की रचनाओं में दार्शनिक तत्व' विषय पर अपना व्याख्यान प्रस्तुत किया। अपने वक्तव्य के आरंभ में ही प्रो. मिश्र जी ने भारतीय भाषाओं पर सर्वे की आवश्यकता का बल देते हुए कहा कि इस क्षेत्र में भाषा-संस्कृति को लेकर जो कार्य हुए हैं, वे पूर्वाग्रह से ग्रसित रहे हैं। जिससे सही निष्कर्ष हमारे सामने नहीं आ पाए। प्रो. मिश्र ने बताया कि भारतीय संस्कृति निरंतरता की संस्कृति है। भारत का नाम भारतवर्ष होना इसी तथ्य की पुष्टि करता है। कश्मीरी भाषाओं के संदर्भ में प्रो. मिश्र ने सुनीति कुमार चटर्जी एवं ग्रियर्सन के भाषा विषयक मत का उल्लेख करते हुए कहा कि आर्य भाषाओं का विभाजन करते हुए संस्कृत इंडोनेशियन एवं पश्तो आदि भाषाओं के साथ रखा है। उन्होंने बताया कि संस्कृत भाषा में कश्मीरी का व्याकरण उपलब्ध है। वस्तुतः देश की सभी भाषाएँ प्राकृत से ही उत्पन्न हैं। हमें भाषिक यथार्थ के वास्तविक स्वरूप को समझना चाहिए तथा भाषा के नाम पर विखंडित करने के लिए किये जाने वाले षड्यंत्र से बचना चाहिए। प्रो. मिश्र ने कहा कि कश्मीर क्षेत्र में लिखा साहित्य अत्यंत व्यापक है। यहाँ अनेक भाषाओं का साहित्य है। इन भाषाओं की साहित्यिक रचनाओं में दार्शनिक तत्वों की व्याख्या करने के लिए प्रो. मिश्र जी ने उत्पल देव, अभिनव गुप्त, लल्लेश्वरी एवं नुंद ऋषि की रचनाओं को आधार बनाया। साहित्य में दार्शनिक तत्वों के समावेश के संदर्भ में उन्होंने कहा कि इससे साहित्य के सहज रस एवं कविता तत्व की हानि नहीं होनी चाहिए।

पंत, निराला एवं आचार्य जानकी बल्लभ शास्त्री जी का उल्लेख करते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया कि इन साहित्यकारों ने अत्यंत सहजता-सरलता एवं स्वाभाविकता से दर्शन की व्याख्या अपनी कविता के माध्यम से की। दार्शनिक तत्वों का समावेश काव्य को एक मजबूत आधार भी प्रदान कर देता है। उन्होंने कहा कि कश्मीर के कवि श्री हर्ष के काव्य में दर्शन का अत्यंत सुंदर समावेश हुआ है। जम्मू-कश्मीर में दर्शन के विषय में उन्होंने बताया कि जम्मू में वैष्णव, कश्मीर में शैव एवं लद्दाख में बौद्ध दर्शन की प्रधानता होते हुए भी यहाँ इन सभी में एक उचित समन्वय है। कश्मीर का राजा मुसलमान होते हुए भी वैष्णव मंदिरों का सम्मान एवं निर्माण करवाता है। इन दर्शनों में भेद न कश्मीर की जनता ने किया, न यहाँ के शासकों ने। प्राचीन काल में ही स्पंद प्रदीपिका, शैव ग्रंथ, परमार्थ सार, गीता संग्रह आदि पर टीकाएँ लिखी गईं, जिनसे इनके गूढ़ अर्थ का प्रकाशन हुआ। अभिनव गुप्त ने सभी कारिकाओं के समन्वय से शैव दर्शन कारिका का प्रतिपादन किया। इसके पश्चात् प्रो. मिश्र ने भक्ति काल के वैशिष्ट्य का उद्घाटन करते हुए कहा कि भक्ति काल के द्वारा भाषा के स्तर पर विरोध का अंत हुआ, सामाजिक स्तर पर एक समरसता आई, वर्ण एवं लिंग असमानता में कमी हुई तथा सांस्कृतिक परिमार्जन का

प्रारंभ हुआ। भक्ति काल में भक्ति का इतना अधिक प्रतिपादन हुआ कि उसे पंचम पुरुषार्थ मान लिया गया, उसे एक अलग रस के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया। दर्शन के क्षेत्र में सगुण-निर्गुण के भेद का अंत भी भक्तिकाल की ही देन है। इस काल में भारत ने कई उत्थान पतन देखे। भक्ति काव्य समर्पण एवं संरक्षण का काव्य रहा है। इसी काल में कश्मीर में उत्पल देव एवं लल्लेश्वरी जैसे रचनाकार हुए। आचार्य उत्पल देव ने शैव दर्शन के प्रतिपादन हेतु शिव स्रोतवली की रचना की। इसमें उन्होंने प्रतिपादित किया कि भक्ति के बिना ज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं। वस्तुतः भक्ति तत्व दार्शनिक रचनाओं में अनिवार्य रूप से अंतर्निहित रहा है। प्रो. मिश्र ने आचार्य उत्पल देव द्वारा लिखित स्रोत को उद्धाटित करते हुए उसका भावार्थ समझाया कि उत्पल देव की दृष्टि में शिव सर्व विद्यमान, सर्वव्यापक हैं, परम शिव देशकाल, उपाधियों, आकृतियों, शब्दों, प्रमाणों से परे आनंदघन स्वरूप स्वतंत्र चेतना हैं।

प्रो. मिश्र ने बाल्मीकि एवं व्यास का उदाहरण देते हुए समझाया कि काल के अंतर्गत रहते हुए भी कालातीत कैसे हुआ जाता है, यह इन दोनों कवियों के काव्य से देखा जा सकता है। वस्तुतः कवि को लोक परंपराओं का ज्ञान होना चाहिए। लोक परंपराओं का ज्ञान न होना भामह जैसे काव्यशास्त्रियों ने एक काव्य दोष माना है। अभिनव गुप्त का उल्लेख करते हुए प्रो. मिश्र ने कहा कि उन्हें काव्यशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन, तंत्र, व्याकरण, सौंदर्य शास्त्र आदि का विशेष ज्ञान प्राप्त था। 'तंत्रलोक' के 37वें अध्याय में अभिनव गुप्त ने लिखा है कि "मैं तो साहित्य के रस में डूबा हुआ था लेकिन दुर्मद नायिका (भक्ति) ने मुझे पकड़ लिया। मैं उसके बस में हो गया। अब मैं अपने गुरु के चरणों का दास बना हुआ हूँ।" अभिनव गुप्त की इन पंक्तियों में वैराग्य और लोक दोनों का समावेश मिलता है। प्रो. मिश्र ने कहा कि कश्मीरी कवियत्री लल्लेश्वरी ने शैव दर्शन की परंपराओं को कश्मीरी भाषा में रूपायित किया है - "मैं उस प्राणशक्ति को ढूँढने के लिए घर से निकल पड़ी। कई रात कई दिन बीत गए लेकिन अंत में देखा कि वह तो मेरे ही घर में विद्यमान हैं।" लल्लेश्वरी की रचना कश्मीर में वाक् नाम से जानी जाती है। उनके कश्मीर दर्शन के ग्रंथ 'शिव सूत्र' में आत्मा नर्तक है, अंतरात्मा रंगमंच है, प्रेक्षक ज्ञानेंद्रियां हैं। आत्मा अपने को स्वयं से भिन्न भूमिका में रखकर यह नाटक चलाती है। इसके उपरांत नंदू जोशी का उल्लेख करते हुए प्रो. मिश्र ने कहा कि उनके काव्य ग्रंथ जो कश्मीरी में लिखे गये हैं, वे कबीर, नानक, बुल्ले शाह, तुकाराम आदि की भाव धारा के ही ग्रंथ हैं। उन्होंने बाह्य आडंबरों को छोड़कर आत्म-साधना पर बल दिया है। भगवान शिव से वर माँगते हुए वे कहते हैं कि, "हे शिव, मुझे वैसे ही मुक्ति का वर दो जैसा कि पदमपुर की आराधिका लल्लेश्वरी को अमर तत्व का पान कराया।"

इस प्रकार प्रो. रजनीश मिश्र ने अपने वक्तव्य में लिस्ट एक्सप्लोर्ड विषय को वास्ट एक्सप्लोर्ड बना दिया। उन्होंने वैदिक वांगमय से लेकर आधुनिक साहित्य तक के कश्मीर एवं कश्मीरी दार्शनिक परंपरा का उल्लेख किया तथा प्राचीन विद्वानों से लेकर अद्यतन विद्वानों तक की सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत की। अपने व्याख्यान के अंत में उन्होंने प्रतिभागियों के प्रश्नों के उत्तर दिए। कार्यशाला के समन्वयक श्री अजय कुमार शर्मा ने अतिथि वक्ताओं का परिचय कराया तथा सत्र का संचालन कार्यशाला समन्वयक डॉ. संजय कुमार तिवारी ने किया।

### **चतुर्थ अकादमिक सत्र :**

दिनांक 29 जून, 2020 को चतुर्थ सत्र के प्रथम वक्ता जम्मू-कश्मीर अध्ययन केंद्र के अध्यक्ष एवं लेखक तथा पत्रकार पद्मश्री जवाहरलाल कौल ने 'कश्मीरी साहित्य में सांस्कृतिक अवबोध' विषय पर अपना वक्तव्य प्रस्तुत करते हुए बताया कि प्राचीन कश्मीर रियासत को दो भागों-जम्मू तथा कश्मीर में विभाजित किया गया था। जम्मू क्षेत्र की भाषा डोंगरी तथा कश्मीर क्षेत्र की भाषा कश्मीरी रही। उन्होंने बताया कि लगभग एक हजार साल पहले कश्मीर की राजभाषा



संस्कृत थी, जिसकी मुख्य लिपि शारदा थी। उस समय के शासकों में प्रायः समर कौशल का आभाव था, जिसके कारण आक्रमणकारी अफगानिस्तान के रास्ते गांधार होते हुए आक्रमण करते थे। महाराजा रणजीत सिंह जैसे कुछ रणनीतिक सम्राटों ने इस तथ्य को पहचाना। उन्हें जब भी किसी बाहरी आक्रमणकारी के आक्रमण का अंदेशा होता तो वे उस पर पहले ही आक्रमण की योजना बना लेते। अफगानों के आगमन के साथ ही अरबी फारसी बहुल एक नई भाषा उर्दू का प्रवेश यहाँ हुआ तथा संस्कृत के बाद उर्दू ही राजभाषा बन गई। कश्मीरी संवाद की भाषा ही बनी रही।

श्री जवाहरलाल कौल ने कश्मीर के दो फकीर प्रवृत्ति के रचनाकारों का उल्लेख किया। इनमें पहली लल्लेश्वरी तथा दूसरे नुंद ऋषि हैं। लल्लेश्वरी ब्राह्मण परिवार से थी जबकि नुंद मुस्लिम परिवार से संबंध रखते थे। नुंद ऋषि लल्लेश्वरी के शिष्य थे। ये दोनों कश्मीर के थे और कश्मीरी में ही अपनी कविता करते थे। ऐसी कश्मीरी को वे फारसी विद्वान जो अपने धर्म प्रसार के लिए ईरान की तरफ से आते थे, समझ नहीं पाते थे। वे अपने मत के आधार पर अपने धर्म का प्रसार करने का प्रयास करते थे। उन्होंने कश्मीर के दार्शनिक मतों एवं धर्मों को ईरान के साथ जोड़कर प्रचार-प्रसार करना चाहा, पर लल्लेश्वरी एवं नुंद ऋषि के कारण ऐसा संभव नहीं हो सका। लल्लेश्वरी दर्शन के गूढ़ रहस्यों को जानती थी। उन्होंने प्राचीन वैदिक ग्रंथों को अपनाया था। कम पढ़े लिखे लोग उनके भाव को सही प्रकार से नहीं जान पाते थे। उनका वाक् भी पढ़े लिखे लोगों तक ही सीमित रहता, गरीब अनपढ़ लोग लल्लेश्वरी के ज्ञान को नहीं समझ पाते थे। इसलिए लल्लेश्वरी के शिष्य नुंद ऋषि ने उनके संदेशों को सरल भाषा में रूपांतरित करके प्रस्तुत किया। नुंद के श्लोकों में आम लोगों की भावनाएँ समाहित रहती थीं। इसीलिए वे इस्लाम धर्मप्रचारको के- लिए खतरनाक साबित हुए। वे इस्लाम को भी ऋषि परंपरा से देखते थे तथा ईश्वर को देवा कहते थे। इन धर्म प्रचारकों के पास उनका कोई तोड़ नहीं था। इन्होंने उनका नाम 'नूरुद्दीन' करके इस्लाम और शरियत की ओर मोड़ने की कोशिश की पर सफल नहीं हो पाए। नुंद आम लोगों को समाज के मूल्यों के प्रति सचेत करते थे। राजा सिकंदर के समय तक कश्मीर में हिंदुओं का ही बाहुल्य था। कश्मीरी भाषा एवं सांस्कृतिक विचार के माध्यम से ही इस्लामी अतिक्रमण का सफल विरोध होता रहा। परंतु लल्लेश्वरी और नुंद के बाद सरकारी दमन आरंभ हुआ। लोगों का बलपूर्वक धर्मांतरण किया जाने लगा। ऋषि परंपरा, मंदिर निर्माण आदि पर रोक लगा दी गई। इतना सब कुछ होते हुए भी कश्मीरी में दार्शनिक कविता का सिलसिला 19वीं सदी तक चलता रहा।

लल्लेश्वरी एवं नुंद के बाद श्रीनगर में एक मुस्लिम कवि हुए जिन्हें 'स्वच्छ कवि' के नाम से जाना जाता है। वे मिट्टी के बर्तनों के आधार पर बिंब रच कर लोगों को प्रकृति, ईश्वर, माया आदि के संबंध में ज्ञान देते थे। इनके बाद जो कवि हुए उन्हें भी सूफी कहा गया पर उनकी शब्दावली एवं बिंब लल्लेश्वरी के काल से ही निकलते हैं। वे ईश्वर को पहचानने की बात करते थे, लल्लेश्वरी को गुरु मानते थे। कश्मीरी में शुद्ध भक्ति की धारा भी प्रवाहित रही। इसमें सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति दोनों धाराएँ समाहित रहीं। इनके अंतर्गत रामायण, महाभारत आदि को आधार बनाकर कश्मीरी में रचना की गई। इनमें से एक रामायण की रचना प्रकाश राम पुरगामी ने की। पुरगामी कभी अपने गांव से बाहर नहीं गए थे। वे बुलर झील को ही समुद्र समझते थे। उन्होंने राम को सारा वनवास कश्मीर के वनों में ही करवाया। उनकी रामायण में कश्मीर के वनों, पर्वतों आदि का अद्वितीय वर्णन हुआ है। इस समय दूसरे प्रमुख कवि परमानंद हुए। उन्होंने धार्मिक-पौराणिक कविता लिखी। भक्ति की यह परंपरा कश्मीरी में बीसवीं सदी तक जारी रही। बीसवीं सदी में कश्मीरी के एक प्रसिद्ध कवि रामन राही हुए जिन्हें 'ज्ञानपीठ' सम्मान मिला। वे स्वयं को लल्लेश्वरी की परंपरा से जोड़ते हैं। उन्होंने आनंद वर्धन को समर्पित करते हुए एक कविता लिखी है, जिसमें वे लल्लेश्वरी को संबोधित करते हुए कहते हैं-“ हे लल्लेश्वरी, तू यहाँ न आ। अपने इस बगीचे के दरवाजे पर आते ही तू जहर खा लेगी। यहाँ अब न शिव है ना शक्ति है, वे चले गए हैं।”

अपने वक्तव्य के अंत में श्री जवाहरलाल कौल ने बताया कि दुर्भाग्य से कश्मीरी को अपना उचित स्थान आज तक नहीं मिल पाया। यह कभी राजभाषा नहीं बनी, हाशिए की भाषा ही बनी रही। अतः इस भाषा में सबसे अधिक आक्रोश पाया जाता है, परंतु सांस्कृतिक अवबोध भी इसी में सबसे अधिक विद्यमान है। इसके पश्चात् उन्होंने प्रतिभागियों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर देते हुए आचार्य अभिनव गुप्त एवं उनके शैवागम का विस्तृत वर्णन किया। उन्होंने बताया कि धार्मिक दर्शन लोगों को संसार से भगाने की चेष्टा करता है, संसार को निस्सार बताता है, इससे अलग रहने का उपदेश देता है, परंतु शैवागम माया को प्रकृति का ही स्वरूप मानता है, जो मिथ्या नहीं है। यह हमारे लिए ही बनी है, इसमें से गुजर कर ही हम ईश्वर तक पहुंच सकते हैं। वह संसार को त्याज्य नहीं मानता।

इस दिन के दूसरे वक्ता डॉ. प्रदीप कुमार दास, अध्यक्ष, शास्त्रीय भाषा विभाग (संस्कृत एवं पालि), केंद्रीय बौद्ध अध्ययन संस्थान, लद्दाख ने 'लद्दाखी एवं बल्ती साहित्य में सांस्कृतिक अवबोध' विषय पर अपना संबोधन प्रस्तुत किया। अपने वक्तव्य के आरंभ में लद्दाख की भौगोलिक पृष्ठभूमि की चर्चा की। लद्दाख जम्मू-कश्मीर का दुरूह-दुर्गम पर्वतीय प्रदेश है। अब यह एक केंद्र शासित प्रदेश है। जब भारत में बौद्ध धर्म का अवसान हो चुका था, तब वह लद्दाख में ही जीवित रहा। लद्दाख में अश्वघोष से लेकर आज तक बौद्ध धर्म जीवित रहा है। उन्होंने बताया कि पुरातात्विक साक्ष्यों से पता चलता है कि लद्दाख में प्रारंभ से ही थेरवादी परंपरा, जो बौद्ध धर्म की ही हीनयान शाखा का ही दूसरा नाम है, का प्रभाव रहा है। लद्दाख के कई गांव में मिले अशोक के स्तूप एवं सिंधु के पुल के पास खरोष्ठी व शारदा लिपि में लिखे शिलालेख यहाँ प्राचीन काल से ही बौद्ध धर्म की मौजूदगी की पुष्टि करते हैं। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि लद्दाख में नौवीं सदी से पहले का इतिहास दुष्प्राप्य ही है। कई लोगों ने जोड़कर इसका खाका तैयार किया है। नौवीं शताब्दी में तिब्बत में राजशाही की समाप्ति के बाद से ही लद्दाख का व्यवस्थित इतिहास मिलता है। आठवीं-नौवीं सदी तक की लद्दाख की भाषा के विषय में विस्तृत जानकारी नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों ने किसी प्राकृत जैसी भाषा के प्रयोग की बात यहाँ स्वीकार की है।

वर्तमान में लद्दाख की प्रमुख भाषा लद्दाखी है। लद्दाखी तथा तिब्बत की भोटी भाषा में इतना अंतर है कि तिब्बत में उच्चारण करते वक्त शब्दों के कुछ वर्ण साइलेंट रखे जाते हैं, जबकि लद्दाखी में सभी वर्णों का उच्चारण किया जाता है। भोटी अथवा लद्दाखी की लिपि भोट है। लद्दाख की भाषा तिब्बती-बर्मी भाषा परिवार की तिब्बती-चीनी शाखा के तहत तिब्बती-हिमालय भाषा परिवार के अंतर्गत आती है। लद्दाखी अथवा भोटी में साहित्य एवं लोक प्रयुक्त की दृष्टि से अंतर पाया जाता है। इस भाषा में कश्मीरी, उर्दू, हिंदी एवं बल्ती आदि भाषाओं के शब्द पाए जाते हैं। लद्दाख की यह भाषा अभी भी प्रयुक्त की जाती है इसमें स्थानीय तत्वों का समावेश भी हुआ है। रचना के स्तर पर शास्त्रीय भाषा, जो तिब्बत में प्रचलित है, का प्रयोग किया जाता है। बौद्ध धर्म के त्रिपिटक एवं बौद्ध कृतियों की टिकाओं का अतुल भंडार विद्यमान है। प्रो. दास ने बताया कि सन् 633 ईसवी में तिब्बत के राजा ने थुन्नमी संभोट को अध्ययन हेतु भारत भेजा था। वह यहाँ सात वर्ष तक रहा। इसके बाद उसने सोलह वर्णों के साथ भोट लिपि का आविष्कार किया। उसने आठ अवकाशों की रचना भी की परंतु उनमें से अब छह अवकाश प्राप्य नहीं हैं। वे शायद किसी क्रूर राजा ने नष्ट करवा दिए। थुन्नमी संभोट ने व्याकरण एवं संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद भी किया।

प्रो. दास ने बताया कि भोट लिपि के विषय में विद्वानों में तीन मत हैं, कुछ विद्वान मानते हैं कि यह नागरी लिपि से उत्पन्न हुई है, अन्य विद्वान मानते हैं कि यह लंचा से बनी है जबकि कुछ दूसरे विद्वान इसे गुप्त लिपि से उत्पन्न हुआ मानते

हैं। अपने वक्तव्य में प्रो. प्रदीप कुमार दास ने आगे कहा कि आठवीं सदी में लद्दाख में बौद्ध धर्म के साहित्य का व्यापक विकास हुआ। बुध विहारों की स्थापना हुई। संस्कृत से भाटी में ग्रंथों का अनुवाद किया गया। वस्तुतः भाटी का अंकुरण व विकास तिब्बत के राजाओं द्वारा ही किया गया। दसवीं शताब्दी में लद्दाख के शासकों ने भी इसे राजभाषा बनाया। इसके पश्चात् लद्दाख एवं तिब्बत के कई शासकों ने इस लिपि का प्रयोग अनिवार्य कर दिया। बौद्ध भिक्षुओं को इस समय बौद्ध धर्म के अध्ययन हेतु तिब्बत जाना पड़ता था, इस कारण लद्दाख में साहित्य व सांस्कृतिक भाषा के विकास का कुछ हास भी हुआ। रिञ्चन थंमो ने भी साहित्य व बौद्ध धर्म के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया जिसके कारण उन्हें 'लोकचक्षु' की संज्ञा दी गई। उन्होंने 189 ग्रंथों का भोटी में अनुवाद किया। आज उनके द्वारा अनुदित ग्रंथ ही उपलब्ध हैं, संस्कृत के मूल ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने तर्क विद्या के ग्रंथों का भी अनुवाद किया।

सोलहवीं सदी के पश्चात् भोटी भाषा में पर्याप्त लेखन एवं अनुवाद कार्य किया गया। जिसका विस्तृत वर्णन तथ्य परक ढंग से प्रो. दास ने किया। उन्होंने आगे बताया कि सन् 1850 में बाइबिल का भोटी में अनुवाद किया गया। प्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ता एलेग्जेंडर कलिंघम ने 'लद्दाख फिजिकल, स्टेटिस्टिकल एंड हिस्टोरिकल' नाम से लद्दाख पर एक महत्वपूर्ण एवं प्रमाणिक ग्रंथ की रचना की। सन् 1890 में कैप्टन रामसे ने भोटी-अंग्रेजी शब्दकोश की रचना की। इस समय में अनेक लद्दाख की लोक कथाओं का अंग्रेजी में भी अनुवाद किया गया। बीसवीं शताब्दी में हिमाचल व लद्दाख में सन् 1025 से 1050 तक की अनेक महत्वपूर्ण पांडुलिपियों की खोज की गई। लद्दाखी विद्वान योसेफ गर्गेन ने मानवीय मूल्यों, धर्म, पुनर्जन्म आदि पर ग्रंथों की रचना की। उन्होंने भोट लोकोक्ति संग्रह का भी निर्माण किया। प्रो. दास ने आगे बताया कि सन् 1933 में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने लद्दाख आगमन के दौरान अनेक विद्वानों से भेंट की तथा 'लद्दाखी रीडर' नाम से एक ग्रंथ की रचना की। उन्होंने तिब्बत में भोट भाषा का गहन अध्ययन किया तथा अनेक बौद्ध ग्रंथों को तिब्बत से भारत लाए। सन् 1935-40 के दौरान अनेक लद्दाखी युवाओं ने 'यंग मैन बुद्धिस्ट एसोसिएशन' नामक संस्था की स्थापना की जो लद्दाख के साहित्यिक-सांस्कृतिक विकास हेतु कार्यरत रही है। वर्तमान में इसे 'लद्दाख बुद्धिस्ट एसोसिएशन' के नाम से जाना जाता है। इस संस्था ने लद्दाखी भाषा में पहली से पांचवी तक की पाठ्य-पुस्तकें तैयार कीं, जो बाद में बहुत लोकप्रिय हुई। 1979 ईस्वी में संयुक्ता कौशल ने 'लद्दाखी ग्रामर' नामक पुस्तक की रचना की। सन् 1991 से 2004 के दौरान डी. डी. शर्मा ने लद्दाख की भाषा पर व्यापक सर्वेक्षण के आधार पर तीन खण्डों में अंग्रेजी में 'ट्राइबल लैंग्वेज ऑफ लद्दाख' का प्रकाशन किया।

इसके पश्चात् प्रो. प्रदीप कुमार दास ने बल्ती भाषा एवं साहित्य की चर्चा की। उन्होंने कहा कि इसके नाम से पता चलता है कि यह बलित्तस्तान से संबंधित भाषा है। मूल रूप से यह भाषा गिलगिट एवं बलित्तस्तान में बोली जाती है। ये दोनों ही आज पाकिस्तान में हैं। इसके अतिरिक्त यह भाषा कारगिल जिले, कश्मीर के द्रास एवं जम्मू के रामबन जिले में भी बोली जाती है। इस भाषा को प्राचीन तिब्बती भाषा के रूप में भी जाना जाता है। अधिकांश मुस्लिम इसे बोलते हैं तथा वे इसे फारसी लिपि में लिखते हैं क्योंकि बलित्तस्तान में तिब्बत का प्रभाव रहा है। इसलिए इस भाषा की लिपि भोट रही। आठवीं से चौदहवीं शताब्दी तक बलित्तस्तान तिब्बत के अधीन रहा, इसलिए इस भाषा में तिब्बती वर्णमाला का प्रयोग होता रहा। बल्ती भाषा चीनी-तिब्बती भाषा समूह के अंतर्गत आती है। इस्लाम के आने के बाद यह भाषा फारसी लिपि में लिखी जाने लगी। 1948 में बलित्तस्तान पर पाकिस्तान का अधिकार हो जाने के बाद इस भाषा में उर्दू एवं अंग्रेजी के शब्द भी आ गए। पिछले एक दशक से कई स्थानों पर भोट लिपि के पुनर्प्रयोग के प्रयत्न चल रहे हैं।

प्रो. प्रदीप कुमार दास ने बताया कि यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि बल्ती भाषा में साहित्य के नाम पर केवल कुछ मुहावरों के संकलन के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। कुछ महाकाव्यों में मौखिक रूप से बल्ती भाषा का प्रयोग हुआ है। इस संदर्भ में उन्होंने मोक्ष गैलम गैसर की लोक कथा का विशेष रूप से उल्लेख किया जिसका वाचन सुरुचिपूर्ण ढंग से कोई अधिकृत बुजुर्ग व्यक्ति करता है। यह लोककथा इस क्षेत्र में इतनी प्रसिद्ध है कि इसका अनुवाद फ्रेंच, जर्मन आदि अनेक भाषाओं में हो चुका है। इस प्रकार अपने उद्बोधन में प्रो. प्रदीप कुमार दास ने लद्दाखी एवं बल्ती भाषा साहित्य पर एक विशद्, तथ्यपरक एवं सारगर्भित व्याख्यान प्रस्तुत किया। उन्होंने प्रतिभागियों की जिज्ञासाओं का समाधान भी प्रस्तुत किया।

इस सत्र में अतिथि परिचय श्री अजय कुमार शर्मा ने कराया तथा सत्र संचालन डॉ. वीर पाल सिंह यादव ने किया।

### पंचम अकादमिक सत्र :

दिनांक 30 जून, 2020 को कार्यशाला के अंतिम दिन के अकादमिक सत्र की प्रथम वक्ता के रूप में जम्मू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो. परमेश्वरी शर्मा ने 'हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक अवबोध' विषय पर अपना वक्तव्य दिया। उन्होंने बताया कि जम्मू कश्मीर एक बहुभाषी प्रदेश रहा है। यहां डोंगरी, कश्मीरी, पंजाबी, शीना, बल्ती जैसी अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। प्राचीन काल में यहां की भाषा संस्कृत थी। काफी समय पहले से ही प्रायः धारणा बन गई कि हिंदी हिंदुओं की तथा उर्दू मुस्लिमों की भाषा है। कश्मीर में हिंदी साहित्य को लेकर अधिक चर्चा नहीं हुई है। प्रो. परमेश्वरी शर्मा ने बताया कि यँ तो कश्मीर शैव दर्शन की भूमि रही है, परंतु यहाँ वैष्णव भक्ति के आचार्य एवं कवि भी हुए हैं। उदाहरण के रूप में उन्होंने ठाकुर जम्मन का उल्लेख किया। भक्ति काल के समय कश्मीर में भक्ति की अनेक रचनाएँ लिखी गईं। भक्ति भाव की यह कविता विशुद्ध खड़ी बोली की कविता है। (रूपा भवानी) 1625 से 1719) प्रसिद्ध रहस्यवादी कवियत्री के रूप में प्रसिद्ध रही हैं। प्रो. परमेश्वरी शर्मा ने दत्तू को कश्मीर में हिंदी का पहला कवि माना है। उन्होंने भक्ति के साथ साथ-राज प्रशंसा की कविता भी लिखी है। जम्मू क्षेत्र के कवि नरोत्तम शास्त्री के काव्य संग्रह 'मालिनी मंदिर', 'घायल कविता' आदि में देशभक्ति, करुणा, प्रकृति एवं सांस्कृतिक चित्रण का वैविध्य दिखाई देता है।

सन् 1930-40 के आसपास यहाँ की कविता में छायावाद की प्रवृत्तियाँ छाई रहीं। इस समय के रचनाकारों में बंसीलाल, जिन्होंने 'वसुधा' पत्रिका निकाली। इसी समय 'दीपक' पत्रिका के संचालक पंडित हरदत्त शर्मा ने भक्ति भाव की कविताएँ लिखकर हिंदी कविता को आगे बढ़ाया।

सत्र का दूसरा व्याख्यान जम्मूकश्मीर- के जाने माने लेखक एवं- 'निर्मल विनोद' के नाम से प्रसिद्ध डॉ. विनोद कुमार गुप्ता ने 'डोंगरी साहित्य में सांस्कृतिक अवबोध' विषय पर प्रस्तुत किया। निर्मल विनोद जी ने डोंगरी भाषा एवं उसके क्षेत्र के विषय में विस्तार पूर्वक चर्चा की। उन्होंने बताया कि रावी व चिनाव के मध्य का क्षेत्र डूंगर प्रदेश कहलाता है। इसके 22 राज्यों की मान्य भाषा डोंगरी रही है। डोंगरी शब्द की उत्पत्ति डूंगर से हुई है। कुछ विद्वान इसकी उत्पत्ति दुर्गा से जोड़ते हैं। सन् 1060 ई के ताम्रपत्र में दुर्गा शब्द का उल्लेख मिलता है। डोंगरी का सर्वप्रथम उल्लेख अमीर खुसरो के समय में मिलता है। इसका उल्लेख सिंधु व कश्मीरी के साथ किया गया है। डोंगरी सीमांत पहाड़ी डूंगर प्रदेश की भाषा के रूप में मान्य रही है। डोंगरी भाषा आर्य परिवार की भाषा है, जिसका विकास शौर सैनी अपभ्रंश से हुआ है। कुछ विद्वानों ने इसे पहाड़ी प्राकृत का उन्नत रूप स्वीकार किया है। सन 1400-1500 के आसपास के डोंगरी भाषा के शिलालेख टाकरी लिपि में लिखे हुए पाए गए हैं। 18वीं-19वीं शताब्दी में भी डोंगरी के लिए टाकरी लिपि का प्रयोग किया जाता था, परंतु

अनुवाद व साहित्यिक लेखन में इसके लिए देवनागरी लिपि ही प्रयुक्त होती रही है। जॉर्ज ग्रियर्सन ने जम्मू के आस-पास के क्षेत्र की बोली को डोंगरी कहा है। इसे उन्होंने कश्मीरी का अंश स्वीकार किया है। परंतु उनका मत सत्य से परे एवं अप्रामाणिक है। वस्तुतः डोंगरी का अस्तित्व कश्मीरी से भी पहले से विद्यमान है। प्रोसिद्धेश्वर वर्मा ने डोंगरी को स्वतंत्र भाषा सिद्ध करते हुए जॉर्ज ग्रियर्सन के मत का खंडन किया है। हिमाचल प्रदेश में डोंगरी को पहाड़ी नाम दिया जाता है। निर्मल विनोद जी ने बताया कि 1856 से 1885 तक महाराजा रणवीर सिंह का काल डोंगरी का स्वर्ण काल रहा है। रणबीर सिंह के बाद उर्दू राजभाषा बन जाने के कारण डोंगरी भाषा का हास हुआ। डोंगरी में लिखित साहित्य का अभाव रहा है। मानक चंद, गंभीर चंद, जित्तो, माया दास, रणबीर दास, रूद्र दत्त, लाला रामधन आदि की एकआध पद रचनाएँ - डोंगरी में पाई जाती हैं। स्वामी ब्रह्मानंद ने वेदांत संबंधित काव्य रचना डोंगरी में की है। डोंगरी का अपना समृद्ध लोक साहित्य है, जिसमें लोकगीत, लोक कथा, देवीदेवताओं से जुड़े हुए आख्यान-, संस्कारगीत इत्यादि प्रमुख हैं।

निर्मल विनोद जी ने अपने उद्बोधन में आगे बताया कि आधुनिक काल में डोंगरी भाषा के विकास के लिए अनेक प्रयत्न किए जा रहे हैं। 1954 में जम्मू में डोंगरी मंडल की स्थापना की गई। जम्मू रेडियो से डोंगरी में प्रसारण आरंभ हुआ। जम्मू विश्वविद्यालय में डोंगरी भाषा में कक्षाएं प्रारंभ हुईं। अब डोंगरी भाषा को संविधान की आठवीं अनुसूची में भी शामिल कर लिया गया है।

इस समय डोंगरी भाषा में पर्याप्त मात्रा एवं सभी विधाओं में साहित्य लेखन हो रहा है। पद्मा सचदेव, वेद राही, छत्रपाल, ओम गोस्वामी इत्यादि डोंगरी के प्रसिद्ध साहित्यकार हुए हैं। डोंगरी में साहित्य लेखन को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक पुरस्कार भी प्रारंभ हुए हैं। इनमें साहित्य अकादमी पुरस्कार, नवलेखन के लिए पुरस्कार, बाल साहित्य पुरस्कार, वियोगी सम्मान, एवं 'पंत भाई सम्मान' प्रमुख हैं। अंत में विनोद जी ने बताया कि अन्य भाषाओं के साहित्य की तुलना में डोंगरी साहित्य अभी बच्चा ही है, परंतु फिर भी इसका निरंतर विकास हो रहा है और आशा है कि भविष्य में यह और अधिक तीव्र गति से होगा।

### सम्पूर्ति सत्र :

दिनांक 30 जून, 2020 को ईकार्यशाला के संपूर्ति सत्र में मुख्य वक्ता महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी - विश्वविद्यालय के कुलपति एवं कार्यशाला के संरक्षक प्रो. रजनीश कुमार शुक्ल ने अत्यंत सारगर्भित वक्तव्य प्रस्तुत किया। प्रो. शुक्ल ने नीमच पुराण साहित्य का उल्लेख करते हुए कहा कि 11वीं सदी से पूर्व के कश्मीर का साहित्य संपूर्ण भारत का साहित्य है। 11वीं सदी के पूर्व के कश्मीर की संस्कृति संपूर्ण भारत की संस्कृति है। पाँचसात दिन के अत्यल्प समय में - कश्मीर के सांस्कृतिक-जम्मू साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। उन्होंने बताया कि क्षेमेन्द्र तक के साहित्य का उपजीव्य राम कथा रही है, जिसमें कृष्ण कथा एवं शैवागम का भी महत्वपूर्ण स्थान है। 14वीं सदी के बाद का साहित्य साधना एवं भक्ति का साहित्य रहा है, परंतु विडंबना यह रही कि 19वीं शताब्दी तक कश्मीरी में रामकथा पर काव्य नहीं लिखा गया। राम कथा पर कश्मीरी में पहला काव्य सन् 1846 के बाद ही लिखा गया। कश्मीर के संदर्भ में 1950-1990 तक का साहित्य रोमानियत एवं सांस्कृतिक सम्मिश्रण का साहित्य है। इस साहित्य में कश्मीर के लोगों के अस्तित्व-संघर्ष को दरकिनार कर दिया गया है। यह साहित्य 1990 के बाद के साहित्य से पर्याप्त भिन्न दिखाई देता है। हमें भिन्नता के इन कारणों की समीक्षा करनी होगी।

प्रोशुक्ल जी ने बताया कि जम्मू कश्मीर में तीन भाषाएँ प्रमुख हैं .-लेह लद्दाख के क्षेत्र में लद्दाखी, कश्मीर घाटी के क्षेत्र में कश्मीरी तथा जम्मू क्षेत्र में डोंगरी। कश्मीरी संस्कृत का ही एक अपभ्रंश है। पिछले सौदो सौ वर्षों में कश्मीरी पर - फारसी का प्रभाव रहा है। कश्मीर की भाषाओं के लिए देवनागरी से पहले शारदा लिपि का ही प्रयोग किया जाता था। महाभारत की एक पांडुलिपि भी शारदा लिपि में है, पर सत्ता के दबाव में शारदा लिपि को अपदस्थ कर दिया गया। एक भाषा को बोली के स्तर पर ला दिया गया। लिपि के इस प्रकार अपदस्थ होने से डोंगरी का भी साहित्यिक नुकसान हुआ है। प्रो शुक्ल ने बताया कि राजनीति के चलते तो एक बार कश्मीर विधानसभा में यह तक कह दिया गया कि .‘अभिनव गुप्त नाम का कोई भी आदमी कश्मीर में हुआ ही नहीं।’ जबकि कश्मीर की जनता की अभिनव गुप्त के प्रति आज भी आस्था है। कश्मीर विश्वविद्यालय के कुलगीत की तीसरी पंक्ति में ही दुनिया के तीसरे सबसे अधिक पढ़े लिखे व्यक्ति के रूप में अभिनव गुप्त का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः अभिनव गुप्त को कल्पित मान लेने पर क्षेमेंद्र, उद्भट, मम्मट, वामन सब कल्पित हो जाते हैं तथा कश्मीर के साहित्यिकसांस्कृतिक अवदान की चर्चा करने के लिए कुछ बचता ही नहीं-।

गलवान घाटी विवाद का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि जब महाराजा हरि सिंह ने कश्मीर के विलय पर हस्ताक्षर किए थे, तब तिब्बत उनके साम्राज्य का ही एक हिस्सा था। तिब्बत और छोटा तिब्बत अर्थात लद्दाख में हमेशा से सांस्कृतिक आदानप्रदान होता रहा है-। तुर्किस्तान के हस्तक्षेप के बाद ही विवाद खड़ा हुआ। 1962 के युद्ध के बाद लद्दाख की भूमि बौद्धयान तंत्र परंपरा का एक मात्र स्थान रही है। कार्यशाला के प्रमुख उद्देश्यों को रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा कि कश्मीर के साहित्य व संस्कृति को समझने के साथसाथ उसे संरक्षित करने के उद्देश्य से इस कार्यशाला का आयोजन - किया गया। हमें कश्मीर के संदर्भ में आज की औपनिवेशिक चुनौतियों को भी समझना होगा।

वस्तुतः कार्यशाला के विभिन्न सत्रों के व्याख्यानों में जो कुछ समाहित होने से रह गया उसी की सारगर्भित व्याख्या करके प्रोरजनीश कुमार शुक्ल ने सम्पूर्ति सत्र के नाम को सार्थकता प्रदान की .। सत्र संचालक प्रोअखिलेश दुबे ने . दीनानाथ नादिम की कविता‘आज मैं नहीं गाऊंगा’ के माध्यम से आज के कश्मीर की स्थिति पर क्षोभ व्यक्त किया।

तदुपरांत कार्यशाला के संपूर्ति सत्र के अध्यक्ष महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के प्रति कुलपति प्रोहनुमान प्रसाद शुक्ल जी ने अपना अध्यक्षीय वक्तव्य प्रस्तुत किया .। अपने वक्तव्य में उन्होंने कश्मीर की गुरु परंपरा को शिष्य भाव से श्रद्धा सुमन अर्पित किए तथा अध्यक्षीय उद्बोधन की औपचारिकता को उन्होंने एक पंक्ति में “मैं आचार्य रजनीश कुमार शुक्ल जी के इस वक्तव्य व इसके पीछे की दृष्टि की संपुष्टि करता हूँ और उससे मैं हर प्रकार से सहमत हूँ।” कहकर पूरी कर दी, परंतु इसके बाद उन्होंने एक सारगर्भित व्याख्यान भी प्रस्तुत किया। अपने इस व्याख्यान के माध्यम से उन्होंने कश्मीर के संबंध में कई महत्वपूर्ण मुद्दे जिज्ञासा के रूप में उठाए। उन्होंने कहा कि जम्मूकश्मीर का - अवबोध संपूर्ण भारत के अवबोध से पृथक नहीं है। कश्मीर का इतिहास कम से कम तीन हजार वर्षों से भारत के इतिहास से जुड़ा हुआ है, फिर क्या कारण है कि हम इसके अवबोध का भारत के अवबोध से अलग अध्ययन करते हैं? क्यों एक समृद्ध परंपरा दूसरी परंपरा को स्वीकार करने से इंकार कर देती है? 11वीं सदी में क्षेमेंद्र ने जो बातें कही थीं, वे क्यों आगे नहीं बढ़ पाई ? क्षेमेंद्र की औचित्य विचार चर्चा न केवल साहित्य वरन् जीवन और समाज से भी संबंधित है। काव्यशास्त्र की इतनी समृद्ध परंपरा काव्य की समृद्ध परंपरा के बिना नहीं हो सकती। हमें यह देखना होगा कि जम्मू कश्मीर का गौरवमय चिंतन काल की किन परिस्थितियों में भी विघटित हुआ। क्या कारण है कि भामह केवल काव्य की चर्चा करते हैं, रस की चर्चा नहीं करते ? भामह से लेकर वामन, उद्भट, रुद्रट, आनंद वर्धन, अभिनव गुप्त, क्षेमेंद्र जिस काव्यशब्द मा/ध्यम की चर्चा

करते हैं क्या वह हमारे संवेदन तक पहुंचता है ? क्यों भारत के नाट्यशास्त्र पर अभिनव भारती लिखी जाती है ? क्या कारण है कि यहाँ वामन की परंपरा चलती है जिसने भारतीय काव्य चिंतन को आधार बनाया (उद्भट्ट की नहीं)?

प्रति कुलपति जी ने आगे कहा कि जम्मू कश्मीर के साहित्यिक शास्त्रीय चिंतन के मुकाबले शेष भारत का चिंतन आधे से भी कम है। इसकी परिणति अभिनव गुप्त में ही होती है। भारत को कश्मीर का यह अवदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। कश्मीर की संस्कृति के भाषिक पक्ष का उल्लेख करते हुए प्रति कुलपति जी ने कहा कि शारदा या देवनागरी लिपि लंबे समय से उपयोग के कारण हमारी चेतना से जुड़ गए इसे अलग करना कदापि उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त फारसी लिपि जम्मू कश्मीर की भाषाओं के लिए स्वाभाविक भी नहीं है। किसी भी भाषा के भौगोलिक अर्थ को परंपरा एवं अतीत के संसर्ग के साथ देखा जाता है। जम्मूकश्मीर की भाषाओं को भी इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए -। धर्म, संस्कृति, भाषा एवं इतिहास की दृष्टि से जम्मू-कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है, इसके पृथक्करण की कोई भी बात नितांत अनुचित है। जम्मू-साहित्यिक अवदान उसे भारत का अभिन्न अंग-कश्मीर का सांस्कृतिकसिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

सत्र के संचालक प्रोअखिलेश कुमार दुबे ने जम्मू .-कश्मीर की समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा का उल्लेख करते हुए नई पीढ़ी को इस परंपरा से अवगत कराए जाने की आवश्यकता पर बल दिया। कार्यशाला के समन्वयक डॉसंजय कुमार . तिवारी ने सभी वक्ताओं, सहयोगियों एवं प्रतिभागियों के प्रति कृतज्ञता एवं धन्यवाद ज्ञापित किया।

इस प्रकार यह ईकार्यशाला अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करते हुए पूर्ण सफलता के साथ अपनी परिणति पर -पहुँची। इसके द्वारा प्रतिभागियों ने जम्मूकश्मीर के- सांस्कृतिक, साहित्यिक, भाषिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को अत्यंत विशद् , व्यापक, तथ्यपरक एवं सारगर्भित ढंग से जानासमझा-।